एतदुपसंहृत्य एतत्पूर्वकक्ष्याभावि अनुद्दिष्टमपि विषुवत्स्वरूपं निरूपयति–

एवं समरसः प्रोक्तो विषुवत्तु निबोध मे ।

तद्विभजति–

प्रथमं प्राणविषुवन्मान्त्रं ज्ञेयं द्वितीयकम् ।।३१६।।
तृतीयं नाडिविषुवत्प्रशान्तं च चतुर्थकम् ।
पञ्चमं शक्तिविषुवत्षष्ठं वै काल उच्यते ।।३१७।।

विषुवत् विज्ञान–

महाव्याप्ति की अनुभूतियों की परावस्था की चर्चा यहाँ की गयी है । इसी सन्दर्भ में कथनीय किन्तु अब तक अनुक्त विषय की प्रक्रिया सम्बन्धी कुछ विज्ञान की बातों की ओर अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि, यहाँ तक हमने समरस भाव पर प्रकाश डाला । अब मैं विषुवत् के सम्बन्ध में वास्तविकता का ज्ञापन करूँगा । इसको निष्ठापूर्वक बोध का विषय बनाओ । व्याप्त्यर्थक विष्लृ धातु से यह 'विषु' शब्द निष्पन्न होता है ।

'प्राण विषुवत्' प्रथम विषुवत् माना जाता है । दूसरा विषुवत् 'मान्त्र विषुवत्' है । तृतीय विषुवत् 'नाडि विषुवत्' होता है । चौथा 'प्रशान्त विषुवत्', पाँचवाँ 'शक्ति विषुवत्' और छठाँ 'काल विषुवत्' होता है । सातवें विषुवत् को 'तत्त्व विषुवत्' कहते हैं । 'विषुवत्' एक पारिभाषिक शब्द है । विषु का अर्थ होता है साम्यरूपा व्याप्ति । जो इस व्याप्ति के योग्य होता है, वही विषुवत् होता है । यदि आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि, साम्य संविद्बोध की व्याप्ति ही 'विषु' कहलाती है । विषु से अन्वित ही विषुवत् हो सकता है ।

ज्योतिर्विज्ञान की विषुवत् रेखा पर दिन और रात बराबर होते हैं । यही साम्य व्याप्ति का रहस्य है । वह 'विषुवद् वासर' संज्ञा से विभूषित किया जाता है । आचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य ने विषुवद् विज्ञान की चर्चा (१५/२१२) करते हुए यह स्पष्ट किया है कि, इस ब्रह्माण्ड के मध्य में विभु परमेश्वर की ज्ञान शक्ति का प्रतीक सूर्य प्रकाशघन वृत्तिमानता के कारण मेष राशि के संक्रमण के समय पूर्वपश्चिम दिग्विभाग की निष्पत्ति करता है । सूर्य रूप शिव की सात रश्मियों के प्रतीक रूप ही विषुवत् भाव से सात विषुवत् बन जाते हैं ।।३१६-३१७।।

सप्तमं तत्त्वविषुवत्

विषुं साम्यरूपां व्याप्तिमर्हतीति विषुवत् ।

एवं विभक्तस्यास्य–

प्रविभागस्त्वथोच्यते ।

प्रकर्षेण विभज्यतेऽन्यपरिहारेण व्यवस्थाप्यते वस्तु येन स प्रविभागो लक्षणम् ।

तत्र–

आत्मानं च मनः प्राणे संयोज्य विषुवद्भवेत् ।।३१८।।

शिष्यसत्कमात्मानमात्मीयं च मनः प्राणे मध्यवाहिनि सम्यगित्युक्तवक्ष्यमाण-करणयुक्त्या योजयित्वा प्राणविषुवद्भवति ।।३१८।।

यह सात रूपों में विभक्त विषुवत् का रहस्य है । इस विभाग को भी पूरी तरह हृदयङ्गम करना चाहिये । विभाग की परिभाषा भी यही है कि, प्रकर्ष पूर्वक दूसरे से अपनी स्वतन्त्र सत्ता में पृथक् पृथक् व्यवस्थित कर दिया जाता है । यही प्रविभाग कहलाता है । इस दृष्टि से पहला प्रविभाग 'प्राण विषुवत्' माना जाता है ।

१. प्राण विषुवत्–

प्राण विषुवत् को परिभाषित करने के पहले अध्येता को अपने मन में यह बिठला लेना चाहिये कि, क्रियायें गुरुदेव नित्य सम्पन्न करते हैं । साथ ही साधनारत को शिक्षित भी करते रहते हैं । मान लीजिये वे शिष्य को सिखा रहे हैं । उस समय वे जो बता रहे हैं, वही भगवान् भैरव यहाँ कह रहे हैं । गुरु कहते हैं–वत्स ! तुम अपनी स्वात्मसत्ता का विचाार करो । पहले अपने आप रूप का ध्यान कर लो । फिर अपने मन को निश्चल कर लो । अब अपने आत्मरूप को और अपने मन को इन दोनों को 'प्राण' में संयोजित कर दो । इस अवस्था में आत्म और प्राण मिलकर प्राणवाह में युक्त हो जाते हैं । गुरु कहते हैं–वत्स ! तुम्हारा प्राण भी इस समय इडा पिङ्गला को आत्मसात् कर सुषुम्ना में चलना चाहिये । यह प्राण की साम्यव्याप्ति में स्वात्म और मन दोनों का विलीनीकरण है । समरसता है । वहाँ जिस सामरस्य में प्राण का संचार होता है, वही 'प्राण विषुवत्' की अनुभूति है । यह विशुद्धचक्र के ऊपर की साधना का प्रथम सोपान है ।।३१८।।

एवं

प्राणे विषुवदाख्यातं

अथ–

मान्त्रं विषुवदुच्यते ।

मन्त्रमुच्चारयेत्तावद्यावन्नान्यमना भवेत् ।।३१९।।

परापरविभागेन मन्त्रात्मा तु तदुच्यते ।

मन्त्रं श्रीनिष्कलम्, परापरेति नादान्तमपरम् उन्मनान्तं तु परम् ।

मान्त्रं विषुवदित्युक्तं

मन्त्रोच्चाराश्रयो नाडिरतः–

नाडिस्थं तन्निबोध मे ।।३२०।।

सर्वासामेव नाडीनां मध्ये या संव्यवस्थिता ।

सुषुम्ना नाम सा ज्ञेया नाभेः शक्त्या शिवं गता ।।३२१।।

---

२. मान्त्र विषुवत्–

मान्त्र सामरस्य की चर्चा पहले (श्लो० २९७) की जा चुकी है । श्लोक २५७ में मन्त्र और प्राण के सम्बन्ध में विचार किया गया है । यहाँ उस विचार की प्रक्रिया को नादान्त से उन्मना तक की केवल मान्त्रिकता से समरसता की परिणति मात्र की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है । भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि ! भैरवि ! मन्त्र का इस प्रकार उच्चारण किया जाये कि, वह साधक मन्त्रमय ही हो रहे । उस समय वह अन्यमना न रह जाये । वह पर अर्थात् निष्कल परमन्त्र मय भैरव में समायोजित हो जाये । इस तरह नादान्त से चल कर उन्मना रूप अपरभाव को भी अतिक्रान्त कर निष्कलता से संयुक्त होकर समरसता में समा जाये । मान्त्र विषुवत् के बाद नाडि-विषुवत् का वर्णन कर रहे हैं ॥३१९-३२०॥

३. नाडि विषुवत्–

सभी नाडियों के मध्य में सबसे मुख्य रूप से सुव्यवस्थित एक नाडी है । उसे सुषुम्ना कहते हैं । वह नाभि के मातृकेन्द्र से होती हुई उदान वायु के क्षेत्र से गतिशील शक्तिचक्र से मिलती हुई शिव में समाहित हो जाती है । अर्थात् परतत्त्व का स्पर्श कर उसी में सामरस्य प्राप्त कर लेती है । सुषुम्ना जिस समय नादक्षेत्र से ऊर्ध्व की ओर गतिशील होती है, उसी समय उसमें नाद को प्रवहमान कर देते हैं । आज्ञा चक्र से अकार, उकार के क्रम से नाद का उपक्रम प्रारम्भ हो जाता है । यह ध्वनि अव्यक्त रूप से प्रवहमान होती है । सुषुम्ना में अव्यक्त नाद प्रवाह की यह प्रक्रिया जब नाडी में साम्य भाव से उल्लासित होती है, तभी वह नाडि-विषुवत् कहलाती है ॥३२१½॥

आ नाभेः नाभेरारभ्य शक्त्या शक्त्यानुभवानुप्रवेशेन शिवं गता, परं तत्त्वं [१]प्राप्ता ।

एवं स्थिते–

तत्र प्रवाहयेन्नादम्

नादमव्यक्तध्वनिरूपं प्रकर्षेण वाहयेदकारादिसंयोगेन ऊर्ध्वं प्रापयेत् । तदेतत्सर्वनाडीसाम्यात्मकम् ।

नाडीविषुवदुच्यते ।

उच्यते उक्तमित्यर्थः ।

क्रमप्राप्तं तु–

प्रशान्तं विषुवच्चैवमधुना कथयामि ते ।।३२२।।

तदाह–

अयने[२] षडङ्गुलश्चारः कारणान्यङ्गुलेऽङ्गुले ।
तान्यधस्तात्परित्यज्य कारणानि षडेव तु ।।३२३।।
सप्तमे तु प्रशान्तं वै प्रशान्तेन्द्रियगोचरम् ।

विषुवदिति शेषः । षट्त्रिंशदङ्गुले चारे कालाधिकारस्थित्या हृदयात्प्रभृति मकरादिराशिसंचाररूपेषु अयनेषु प्रत्येकं षडङ्गुलश्चारः, तत्र च प्रतिषट्कं षट्कारणान्यङ्गुलेऽङ्गुले इति षष्ठे षष्ठे इति यावत् । एवं यानि प्रपञ्चव्याप्त्या षट्कारणानि अधस्तात् स्थितानि तानि त्यक्त्वा सप्तमे परमकारणे कारणानां साम्यावस्थितिरूपात् प्रशमात्[३] प्रशान्तविषुवद्भवतीति विशेषः ।

---

४. प्रशान्त विषुवत्–

क्रम प्राप्त प्रशान्त विषुवत् की चर्चा कर रहे हैं । प्रशान्त एक पारिभाषिक शब्द है । जहाँ कारणों की साम्य स्थिति होती है और सर्वकारण भाव का प्रशम हो जाता है । इसी कारण प्रशम के आधार पर इसे प्रशान्त विषुवत् कहते हैं । इसके सम्बन्ध में कारण विषयक कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है । वस्तुतः साधना-संलग्न साधक इस प्रक्रिया में प्राणापानवाह पर विशेष ध्यान देता है ।

वस्तुतः मकर से प्रारम्भ कर राशियों का संचार जिस गतिक्षेत्र में होता है, उसे अयन कहते हैं । प्रति राशि का छः अङ्गुल से ३६ अङ्गुल का एक श्वासचार सिद्ध होता है । इसमें दो बातें सामने आती हैं । १– कारण क्या 'अङ्गुले अङ्गुले' उक्ति के अनुसार १-१ अङ्गुल में रहते हैं या प्रत्येक छः अङ्गुल के ही क्षेत्र में रहते है ? आचार्य क्षेमराज ने छः छः अङ्गुल का ही अर्थ स्वीकार किया है । और यही ठीक भी है ।

---

१. क.पु. व्याप्तेति पाठः । २. ख.पु. अयं षडिति पाठः । ३. ख.पु. प्रथमादिति पाठः ।

प्रशान्तं व्याचष्टे–

प्रशान्तः स्तिमितो ज्ञेयः स्तिमितो निश्चलः स्मृतः ।।३२४।।

निश्चलो निस्तरङ्गश्च स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।

भेदतरङ्गशान्त्या चिद्घनतैव प्रशान्त इति निस्तरङ्गपूर्णपदाशयः ।

एवंभावं समास्थाय दीक्षा कार्या तु दैशिकैः ।।३२५।।

प्रशान्तविषुवति विश्रम्येत्यर्थः ।

एतत्प्रशान्तविषुवत्

अथ–

शक्त्युपाधिं निबोध मे ।

शक्तिमध्यगतो नादो नादोर्ध्वं च चरेद्यदा ।।३२६।।

कुछ लोग प्रथम पक्ष को भी स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार जैसे एक दिन में भी सातों दिनों का भोग सीताराम झा जैसे ज्योतिषी मानते हैं, उसी तरह छः अङ्गुलों में भी एक एक अङ्गुल पर छहों कारणों का प्रभाव रहता है । जो कुछ हो, इन छहों कारणों का प्रसार जो शरीर के भुवः भाग में है, इनका विलयन सप्तम मूल कारण में कर देना चाहिये । सातवाँ परमकारण अर्थात् कारणों का भी कारण माना जाता है । वह एक प्रकार की साम्यभावस्थिति होती है । इसे ही प्रशान्त विषुवत् कहते हैं । यही पक्ष सर्वथा मान्य है ॥३२२-३२३॥

इस परम अवस्था को प्रशान्त स्तिमित (निश्चल) दशा कहते हैं । निश्चल भी निस्तरङ्ग अवस्था की ही संज्ञा है । यह पूरी तरह पूर्ण और स्थिर दशा मानी जाती है । ध्यान देने की बात यह है कि, तरङ्गें ही भेदभाव की निश्चायक होती हैं । दैशिक आचार्यों और गुरुजनों क यह उत्तरदायित्व है कि, शिष्य को इस अवस्था में दक्षता प्रदान करने के अनन्तर ही दीक्षा प्रदान करने की कृपा करें ॥३२४-३२५॥

५. शक्ति विषुवत्–

प्रशान्त विषुवत् के विश्लेषण के बाद अब शक्ति विषुवत् का क्षेत्र आता है । यह पञ्चम विषुवत् है । निरोधिका की लक्ष्मणरेखा को पार कर स्वर्लोक के ब्रह्मरन्ध्र में नाद और नादान्त क्षेत्र में योगी लोग प्रवेश करते हैं । शब्द ब्रह्म का ध्यान इसमें किया जाता है । फिर भी यह ध्यातव्य है कि, यह शक्ति विषुवत् के ही अन्तर्गत आता है । इसीलिये इसे शक्त्युपाधि कहते हैं ।

तावत्तु शक्तिविषुवत्

शक्तिमध्यगतो मध्यधामारूढः, नादोऽव्यक्तध्वनिः, नादात्सदाशिवपदादूर्ध्वं शक्तिस्थानं यदा चरेत्, यदा मध्यस्थस्तदा शक्तिविषुवत् ।

कालाख्यं तु निबोध मे ।

तदर्थमाह–

तुटिः षोडशका या तु प्राणान्ते संव्यवस्थिता ।।३२७।।
कालो भ्रूक्षेपमात्रस्तु तत्रान्ते कीर्तितो मया ।
तं परापर[1]भागेन पुनरेव त्रिधा कुरु ।।३२८।।

प्राणस्यान्ते या षोडशी तुटिः, तत्र तस्यामन्तेऽर्धतुटिरूपे भ्रूक्षेपमात्रोऽन्यन्त-सूक्ष्मसाष्टभागाङ्गुलचारसंचारात्मा यः कालः, तमेकं त्रिधा अपरेण परेण परापरेण[2] च भागेन कुरु तुटेरर्धीकृतायाः त्रिधा विभजनमिति पुनःशब्दार्थः ।।३२८।।

नाद शक्ति के मध्य में आरोह को प्राप्त करता है । यहाँ से वह पुनः ऊर्ध्व की ओर गतिशील होता है । उसी समय शक्ति विषुवत् प्रारम्भ हो जाता है । ऊर्ध्व की ओर गतिशीलता शक्ति की सीमा के स्पर्श के साथ ही चलती है । मध्य में पहुँचने पर ही शक्ति विषुवत् की पूर्णता होती है । शक्ति विषुवत् की यह अवस्था शक्ति वृत्त के बाह्य रेखा पर समाप्त हो जाती है । वहीं से काल विषुवत् का प्रारम्भ होता है । इसके आगे काल विषुवत् का विश्लेषण कर रहे हैं ।।३२६।।

६. काल विषुवत्–

श्वास जहाँ से अङ्कुरित होता है, वहाँ प्रतिप्रदा तिथि होती है । अङ्कुरण के समय को आधी तुटि कहते हैं । यह आधी तुटि आमावस्य केन्द्र में और आधी पौर्णमास केन्द्र में होती है । आधी तुटि श्वास के स्फुरण और आधी श्वास के विलीनीकरण को मिलाकर एक तुटि और १५ तिथि तुटियों को मिलकर १६ तुटियों की गणना एक श्वास में की जाती है । ३६ अङ्गुल के प्राणसम श्वास में २¼ अङ्गुल की एक तुटि सिद्ध होती है । (३६÷१६=२¼) प्राणान्त में वही षोडशी तुटि मानी जाती है । यह वहीं व्यवस्थित रहती है । इसका समय भ्रूक्षेप मात्र माना गया है । इस अल्पकाल को भी तीन भागों में बाँटने का आदेश शास्त्र दे रहा है । एक भाग को अपर, मध्य भाग को पर और तीसरे भाग को अपर भाग कहते हैं ।।३२७-३२८।।

---

१. ग.पु. भावेनेति पाठः । २. क.ग.पु. परात्परेति पाठः ।

तत्र–

अपरः षोडशो यावत्

षोडशः पूर्वोक्तो महाकल्पाख्यो यावदपरः स्थूलः ।

कालः सप्तदशः परः ।

पराख्ययैव पूर्वं निर्दिष्टः ।

परापरस्तु यः कालः स प्रियेऽष्टादशः प्रभुः ।।३२९।।

परापर इति परादपि परः अष्टादशः परार्धाख्यः प्रभुः सर्वकालावयव-व्यापी ।।३२९।।

तदित्थम्–

प्राण एवं त्रिधा कालं कृत्वा चैव त्यजेत्पुनः ।

प्राणं प्राणीयोर्ध्वतुट्यार्धे पूर्वं वर्णैः कारणत्यागावसरेऽनुनिष्पादितयाष्टादशावयव-कलात्यागो मन्त्रोच्चारयुक्त्योक्तः । इदानीं तु योगक्रमेण प्राणचारस्थित्या सप्तदशावयवं कालं यत्नेन त्यक्त्वाष्टादशे कालविषुवति विश्रमितव्यमिति पुनःशब्दार्थः ।

त्रिधा विभक्तस्य कालस्य पूर्वोक्तं स्थानविभागं स्मारयति–

यह ध्यान देने की बात है कि, सोलहवीं महाकल्प नाम की तुटि ही अपर, सत्रहवीं तुटि 'पर' और अट्ठारहवें क्रम की तुटि ही परापर तुटि होती है । यह परापर शब्द पर+अपर अर्थ नहीं देता । पर से परे रहने वाला पर से परम परमात्मा के सूक्ष्म स्वरूप का ही वाचक माना जाता है ।।३२९।।

इस सम्बन्ध में गम्भीरता पूर्वक समझाते हुए भगवान् भैरव देव कह रहे है कि, अट्ठारहवाँ काल परार्ध काल होता है । यह सर्वकाल खण्डों में व्याप्त काल परमेश्वर रूप ही होता है । यह अठारहवाँ त्रिधा काल का तीसरा खण्ड ही है । मन्त्रोच्चार करते हुए साधक अपना मन्त्र इसमें ही समाप्त कर लेता है । अर्थात् सत्रहवें काल खण्ड के मन्त्र के साथ साधक इसी में विश्रान्त हो जाता है । यह विश्रान्ति समस्त काल विश्रान्ति होती है । काल साम्य की स्थिति को कालाभाव की अवस्थिति कह सकते हैं ।

अपरः शक्तिमूर्धस्थो व्यापिन्यां च द्वितीयकः ।।३३०।।
तृतीयः समनास्थाने तत्कालविषुवत्स्मृतम् ।

यस्तृतीयस्तत्कालविषुवदिति सम्बन्धः । तदूर्ध्वं हि–

'.........न कालस्तत्र विद्यते ।'

इत्युक्तम् ॥३३०॥

तदित्थम्–

एतत्षष्ठं समाख्यातं

अथ–

सप्तमं तात्त्वमुच्यते ।।३३१।।

तदाह–

उन्मना परतो देवि तत्रात्मानं नियोजयेत् ।
तस्मिन्युक्तस्ततो ह्यात्मा तन्मयश्च प्रजायते ।।३३२।।

परत इति समनाया य एवात्मन उन्मनायोगः ॥३३२॥

तदेव–

तत्त्वाख्यं विषुवद्देवि सर्वेषां परतः स्थितम् ।

उपसंहरति–

विषुवदेवंविधं ज्ञात्वा को न मुच्यते बन्धनात् ।।३३३।।

इसे और भी स्पष्ट कर रहे हैं । उक्त त्रिधाविभक्त काल में प्रथम भाग को मूर्धस्थशक्ति काल कहते हैं । दूसरे पर भाग को व्यापिनीस्थ काल कह सकते हैं और परापर भाग को समना काल की संज्ञा दी जा सकती है । इसी समना रूप अठारहवें काल की विश्रान्ति को काल विषुवत् कहते हैं । इससे ऊपर काल भी कलना नहीं होती । उन्मना में प्रकाश का विमर्श होता है । शिवाभिमर्शिणी विद्या का योगी लोग यहीं जप करते हैं ॥३३०॥

७. तत्त्व विषुवत्–

सातवें विषुवत् को 'तत्त्व विषुवत्' काल कहते हैं । तत्त्व विषुवत् का क्षेत्र उन्मना का शाक्त क्षेत्र है । उन्मना में स्वात्म का विनियोजन होता है । उन्मना भाव में युक्त योगी पञ्चपिण्डनाथ से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है । परतत्त्व के तादात्म्य में 'तत्त्व विषुवत्' चरितार्थ होता है । यह अवस्था सर्वातिशायिनी परावस्था होती है । अन्त में यह कहा जा सकता है कि, विषुवत् की इस बोधात्मकता को प्राप्त योगी के समस्त बन्धन स्वत एव ध्वस्त हो जाते हैं । विषुवत् साधना में क्रिया योग एक प्रकार से समाहित हो जाता है ॥३३१-३३३॥